
इकाई 6 आर्थिक राष्ट्रवाद*

संरचना

- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है?
 - 6.2.1 आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार की व्युत्पत्ति
 - 6.2.2 औपनिवेशिक संदर्भ में आर्थिक राष्ट्रवाद
- 6.3 भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद
 - 6.3.1 प्रारंभिक विचार
 - 6.3.2 औपनिवेशिक शासन की आर्थिक समालोचना
 - 6.3.2.1 धन की निकासी
 - 6.3.2.2 भारतीय जनता की गरीबी
 - 6.3.2.3 उद्योगों का अल्पविकास
 - 6.3.2.4 लोक वित्त
 - 6.3.2.5 कृषि
 - 6.3.2.6 विदेशी व्यापार
 - 6.3.3 औपनिवेशिक भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उभार
- 6.4 सारांश
- 6.5 अभ्यास

6.1 प्रस्तावना

आर्थिक राष्ट्रवाद भारतीय राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष था। खासकर 19वीं शताब्दी के अवसान और 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में इसकी जड़ें औपनिवेशिक शासन के व्यापक आर्थिक समालोचना में थीं, जिसकी शुरुआत आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं ने अपने प्रकाशनों, भाषणों, और जन-अभियानों में की थी। उनके लेखन और भाषणों ने एक ऐसा ढांचा तैयार किया जिसके अंतर्गत भारत की एकता तथा ब्रिटिश शासन का विदेशी चरित दोनों समा सकते थे। यह एक ऐसा क्षेत्र था जिसमें 'उदारवादी' और 'चरमपंथी' नेतृत्व ने विरोध आत्मक प्रवचनों को निर्मित किया और आकार दिया, जो कि काफी टिकाऊ साबित हुआ।

6.2 आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है?

आर्थिक राष्ट्रवाद, आर्थिक उदारवाद और मार्क्सवाद ये आधुनिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारधाराएँ मानी जाती हैं। पारंपरिक रूप से आर्थिक राष्ट्रवाद को एक ऐसी आर्थिक विचारधारा माना जाता है जो कि अर्थव्यवस्था, श्रम और पूंजी के निर्माण पर घरेलू नियंत्रण पर जोर देती है। इसे भूमंडलीकरण, जो कि सभी राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता को प्रदर्शित करता है, के विरुद्ध एक प्रकार की निरंकुशता के रूप में देखा जाता है। इसके लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये आर्थिक राष्ट्रवादी मुक्त व्यापार को रोकने हेतु कर थोपते हैं ताकि स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा सके तथा आयात को प्रतिस्थापित किया जा सके।

*इकाई लेखक : प्रो. एस.बी. उपाध्याय

जबकि, इस प्रकार का चरित्रांकन गलत नहीं है, हाल के लेखनों ने इस बात पर जोर दिया है कि आर्थिक राष्ट्रवाद का अधिकाधिक सरोकार किसी विशिष्ट नियत किस्म की आर्थिक नीतियों जैसे कर की बाधाएँ और संरक्षणवाद से न होकर राष्ट्र से ज्यादा है। अतः इस दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक राष्ट्रवाद की विचारधारा को विशिष्ट आर्थिक नीतियों की पुष्टि के बजाय इसकी राष्ट्रवादी अन्तर्वस्तु के आधार पर व्याख्यायित किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त, राष्ट्र और राष्ट्रवाद को आर्थिक राष्ट्रवाद के अंतर्गत लाने से यह साफ देख पाना संभव है कि आर्थिक राष्ट्रवादी विभिन्न आर्थिक नीतियों को आगे बढ़ा सकते हैं, जिनमें से कुछ आर्थिक विचारों की दूसरी धाराओं से जुड़ी हो सकती हैं।

6.2.1 आर्थिक राष्ट्रवाद के विचार की व्युत्पत्ति

फ्रेडरिक लिस्ट (1789–1846) 19वीं सदी के सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक राष्ट्रवादी और आर्थिक राष्ट्रवाद की धारणा के पहल करने वाले माने जाते हैं। लिस्ट का 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र' का सिद्धांत एडम स्मिथ (1723–1790) और जीन बापटिस्ट से (1767–1832) के 'व्यक्तिगत अर्थशास्त्र' और 'सार्वभौमिक अर्थशास्त्र' से भिन्नता रखता है। अपनी पुस्तक 'दि नेशनल सिस्टम ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' (1844) में लिस्ट ने मूलतः व्यक्ति या संपूर्ण मानवता के लाभ हेतु आर्थिक नीतियों का आँकलन करने के लिए आर्थिक उदारवादियों की आलोचना की। उन्होंने उदारवादी विचार के 'मृत भौतिकवाद' की आलोचना की तथा तर्क दिया कि उदारवादियों ने 'व्यक्ति को सिर्फ एक उत्पादक और उपभोक्ता माना, न कि राष्ट्र का सदस्य या राज्य का नागरिक।' लिस्ट के अनुसार इस प्रकार के 'असीम सार्वभौमवाद' ने आर्थिक नीति के उद्देश्य हेतु राष्ट्र के महत्व को प्रमुखता नहीं दी। उन्होंने दावा किया : 'प्रत्येक व्यक्ति और संपूर्ण मानवता के बीच, राष्ट्र खड़ा है।' उन्होंने इस मध्यवर्ती शाखा पर आधारित अपने दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध किया : 'मैं राष्ट्रीयता को अपनी व्यवस्था की प्रमुख विशिष्टता के रूप में संकेतित करता हूँ। राष्ट्रवाद की प्रकृति पर, व्यक्तिवाद और संपूर्ण मानवता के मध्यवर्ती रूचि के रूप में, मेरी संपूर्ण संरचना आधारित है।' चूंकि व्यक्ति राष्ट्र के सदस्य हैं, आर्थिक नीतियाँ केवल व्यक्तियों के धन को बढ़ाने का लक्ष्य रखने वाली नहीं होनी चाहिये, अपितु राष्ट्र की संस्कृति और शक्ति के विकास के प्रति उन्मुख होनी चाहिये। इस प्रकार का विकास अंततः संपूर्ण मानवता को समृद्ध करेगा क्योंकि 'मनुष्य जाति का सभ्य होना प्रत्येक राष्ट्र के सभ्य और विकसित होने के माध्यम से ही बोधगम्य और संभव हो सकता है। इस प्रकार, लिस्ट का उद्देश्य था कि शोध को इस दिशा में मोड़ा जाए कि 'एक राष्ट्र विशेष किस प्रकार समृद्धि, सभ्यता और शक्ति प्राप्त कर सकता है।' जिस तंत्र के जरिये इसे प्राप्त किया जा सकता है, वह है देश का औद्योगिक विकास। अतः शैशव उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कर की बाधाएँ खड़ी करना, लिस्ट की आर्थिक नीतियों का आधारभूत लक्ष्य है।

लिस्ट द्वारा स्थापित आर्थिक राष्ट्रवाद की इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के अलावा 19वीं शताब्दी के यूरोप में तीन अन्य ध्यान देने योग्य प्रवृत्तियाँ थीं :

- 1) आर्थिक राष्ट्रवाद की इस धारा ने रूपांतरित हो सकने योग्य मुद्रा की आर्थिक उदारवादी नीतियों की आलोचना की। आर्थिक उदारवादियों का विश्वास था कि इस प्रकार की वित्तीय नीतियाँ व्यापार को बढ़ावा देंगी। अतः, इस उद्देश्य के लिये एकसमान वित्तीय मानक हेतु सभी मुद्राओं के लिये उन्होंने स्वर्णमानक का समर्थन किया। आर्थिक राष्ट्रवादियों ने इसका विरोध किया, उनके एक प्रखर सिद्धांतकार थे थॉमस एटवुड (1783–1859) जो कि एक ब्रिटिश बैंकर और राजनेता थे। एटवुड ने प्रस्ताव रखा कि ब्रिटेन की एक कागजी मुद्रा होनी चाहिये, जो कि स्वर्ण से बंधी न

हो। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि सरकार को आर्थिक मंदी के समय धन की आपूर्ति बढ़ानी चाहिये। उन्होंने यह अनुभव किया कि ये नीतियाँ बेरोजगारी को घटाएंगी। मुद्रा संबंधी उनके दृष्टिकोण को अमेरिकन अर्थशास्त्री हेनरी चार्ल्स कैरी (1793–1879) ने दोहराया। उन्होंने अविनिमेय मुद्रा पर जोर दिया जो कि उनके अनुसार धन की आपूर्ति को स्वतंत्र रूप से बढ़ाकर घरेलू आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देगी। इसी प्रकार इज़ाक बुकानन (1810–1883) जो कि एक कनाडियन व्यवसायी और नेता थे, ने भी अविनिमेय राष्ट्रीय मुद्रा को तरजीह दी, क्योंकि यह लोगों को पूर्ण रोज़गार देता है तथा देश के उत्पादक संसाधनों को विकसित करता है (हैलेनर 2002 : 316)।

- 2) 19वीं सदी के आर्थिक राष्ट्रवाद की एक अन्य धारा के अनुसार आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था तथा मजबूत हस्तक्षेपकारी राज्य का पक्ष लिया गया। जर्मन दार्शनिक और पत्रकार जोहन गॉटलिब फिख्टे (1762–1814) ने राष्ट्रीय आर्थिक स्वावलंबन का मजबूती से पक्ष लिया। इसके लिए उन्होंने एक हस्तक्षेपकारी राज्य की वकालत की, जो कि जनता के लिए उसकी आर्थिक आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष पूर्ति करेगा। 1800 में प्रकाशित एक आर्थिक विनिबंध दि *क्लोज्ड कमर्शियल स्टेट* में उन्होंने एक निरंकुश आर्थिक राष्ट्रवाद तथा एक मजबूत हस्तक्षेपकारी राज्य के पक्ष में तर्क दिया जो कि रोज़गार सुनिश्चित करेगा तथा वेतन और मूल्यों को नियंत्रित करेगा। उन्होंने घरेलू मूल्यों पर नियंत्रण के लिए अविनिमेय मुद्रा पर जोर दिया तथा विदेशी व्यापार का निषेध करने की बात की, क्योंकि व्यापार में उतार-चढ़ाव राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों को अस्थिर कर सकता था। एक अन्य जर्मन पत्रकार, साहित्यकार और राजनीतिक अर्थशास्त्री एडम हेनरिक मूलर (1779–1829) थे, जिन्होंने उदारवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा मुक्त व्यापार प्रणाली की कड़ी आलोचना की। जबकि फिख्टे के आर्थिक विचार क्रांतिकारी फ्रांस के जैकोबिनवादी नीतियों से प्रेरित थे, मूलर के विचार रूढ़िवादी और गैर-उदारवादी थे। मूलर का मत था कि मुक्त व्यापार राष्ट्रीय एकता के लिए विरोधात्मक था इसलिये उन्होंने संरक्षणवाद, अविनिमेय राष्ट्रीय कागज़ी मुद्रा और एक निरंकुश अर्थव्यवस्था की वकालत की।
- 3) कई आर्थिक राष्ट्रवादियों के बीच यह आम सहमति थी कि मुक्त व्यापार और मुद्रा के लिये स्वर्ण मानक जैसी उदारवादी आर्थिक नीतियाँ राष्ट्रीय एकजुटता के अनुरूप नहीं हैं। तथापि, कुछ खास देशों के मामले में, खासकर ब्रिटेन के लिये ये राष्ट्रवादी लक्ष्यों की प्राप्ति में काफी सहायक हैं। ब्रिटेन के ढेर सारे नीति-नियंता उनके अंतर्राष्ट्रीयतावाद तथा विश्वशांति की वकालत की वजह से मुक्त व्यापार के पक्ष में नहीं थे। अपितु, वे इसलिये इसके पक्ष में थे कि वह मशीन निर्मित वस्तुओं के व्यापार में उनके एकाधिकार को बढ़ायेगा। यह उनके देश की शक्ति और समृद्धि में अभिवृद्धि करेगा। मुक्त व्यापार की विचारधारा ने ब्रिटिशों को एक राष्ट्रीय श्रेष्ठता भी महसूस कराई, जिसके ज़रिये वे अन्य, खासकर औपनिवेशिक देशों की संस्कृति और परंपरा को हेय ठहरा सकते थे किन्तु आर्थिक नीतियों में उदारवादी विचार सिर्फ ब्रिटेन जैसे प्रभुत्वशाली औद्योगिक और औपनिवेशिक शक्तियों में ही नहीं पाये जाते थे अपितु, यह उन देशों की नीतियों में भी उपस्थित थे जिसका औद्योगिक विकास कुछ देरी से हुआ था, जैसे-फ्रांस, जर्मनी बेलजियम और नीदरलैंड। अतः यह कहा जा सकता है कि आर्थिक राष्ट्रवाद समान रूप से उदारवादी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध नहीं था। कुछ वैचारिक रूप से सीमित, आर्थिक राष्ट्रवाद की प्रवृत्तियाँ तत्संबंधित देशों की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए कुछ उदारवादी नीतियों का समर्थन करती थीं।

इस प्रकार, आर्थिक राष्ट्रवाद को कुछ विशेष आर्थिक नीतियों से जोड़कर नहीं, अपितु राष्ट्र से जोड़कर समझा जा सकता है। आर्थिक राष्ट्रवादी कुछ ऐसी विशेष नीतियों की वकालत कर सकते हैं जो कि किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आर्थिक वृद्धि में सहायता कर सकती है। आर्थिक राष्ट्रवादियों द्वारा किन्हीं नियत आर्थिक नीतियों की वकालत नहीं की गई है। ये स्थितियों के आधार पर विभिन्न रूप और अंतर्वस्तु ग्रहण कर सकती हैं। यह आर्थिक सिद्धांत के बजाय राष्ट्रवाद का एक स्वरूप है तथा यह आर्थिक उदारवाद का विरोधी नहीं है। राजनीतिक अर्थशास्त्री जिन परंपरागत दृष्टिकोणों—वाणिज्यवाद, राज्यसत्तावाद, संरक्षणवाद के ज़रिये आर्थिक राष्ट्रवाद को चिन्हित करते हैं, वह अब वैध नहीं है। यह राज्य नहीं राष्ट्र है और यह विशिष्ट आर्थिक नीतियाँ नहीं अपितु किसी समय विशेष में राष्ट्र का आर्थिक हित है, जिससे आर्थिक राष्ट्रवाद जुड़ा हुआ है।

6.2.2 औपनिवेशिक संदर्भ में आर्थिक राष्ट्रवाद

यद्यपि उनका विश्वास था कि राष्ट्रों में समानता के आधार पर ही शांतिपूर्ण वैश्विक व्यवस्था का निर्माण हो सकता है, फ्रेडरिक लिस्ट द्वारा प्रस्तुत की गई समानता की धारणा पश्चिमी देशों तक ही सीमित थी। एशिया और अफ्रीका जैसे महाद्वीप के अन्य देशों जिन्हें उन्होंने विश्व के 'उष्ण कटिबंध' की संज्ञा दी थी, के बारे में उनका विश्वास था कि उनके लिये नवजात उद्योगों की सुरक्षा का विचार अप्रासंगिक है क्योंकि इन देशों की नियति ही उपनिवेशीकृत होना है (हेलेनर 2002 : 314)। इस प्रकार का दृष्टिकोण ब्रिटेन और अन्य देशों के आर्थिक उदारवादियों की नीतियों के अनुरूप था, जिसके अनुसार श्रम का अंतर्राष्ट्रीय बंटवारा होना चाहिये जिससे पाश्चात्य देशों को विनिर्मित वस्तुएँ बनाने की छूट मिल सके और शेष विश्व अपने प्राथमिक उत्पादों का ही व्यापार कर सके।

उपनिवेशों में आर्थिक राष्ट्रवाद केंद्र और हाशिये के बीच, साम्राज्यवादी देशों और औपनिवेशिक देशों के बीच असमान संबंधों के विस्तृत ढांचे के अंतर्गत ही समा सकता है। यह संबंध उपनिवेश से उपनिवेशवादी देशों की तरफ धन के एकतरफा स्थानांतरण पर आधारित था। संसाधनों का यह स्थानांतरण प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों हो सकता है। प्रत्यक्ष तरीकों में शामिल था लूट (खासकर आरंभिक दिनों में), वेतन और निवेश पर ब्याज के ज़रिये आमदनी का दूसरे देशों में प्रत्यावर्तन। अप्रत्यक्ष तरीके कई प्रकार के थे जिनमें सबसे प्रमुख था उपनिवेशों के लिए व्यापार संबंधी प्रतिकूल शर्तों का होना, जिनके अंतर्गत उपनिवेशों को उपनिवेशवादी देश अथवा किसी अन्य देश में निर्यात के लिये प्राथमिक तथा कम दाम वाली वस्तुओं के उत्पादन के लिये प्रोत्साहित किया जाता था, ताकि धन के प्रत्यावर्तन के लाभ हेतु विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके। उपनिवेशों को उपनिवेशवादी देशों से औद्योगिक वस्तुओं के आयात के लिये बाध्य किया जाता था। इस प्रकार के असमान आर्थिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही औपनिवेशिक देशों में आर्थिक राष्ट्रवाद के विचारों का विकास हुआ। यहां हम भारत के संदर्भ में इन विचारों की चर्चा करेंगे जो कि 1757 से 1947 तक एक औपनिवेशिक देश था।

6.3 भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद ब्रिटेन द्वारा इसकी अधीनता के संदर्भ में विकसित हुआ। यह दो अन्य घटनाओं से संबंधित था – विश्व स्तर पर पूंजीवाद के विस्तार के फलस्वरूप जिससे 'पहला भूमंडलीकरण' कहा गया, का होना और एक स्पष्ट रूप से परिभाषित क्षेत्र के रूप में भारत का उपनिवेशवादी निर्माण। 19वीं सदी के मध्य में ही ब्रिटेन औद्योगीकृत हो चुका था और वह अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल, अपनी कामगार जनसंख्या के लिये खाद्यान्न

तथा अपने यहां निर्मित होने वाली वस्तुओं के लिये अपेक्षतया सुरक्षित बाजारों की तलाश चारों तरफ कर रहा था। 19वीं शताब्दी में कुछ अन्य देशों में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई जिसकी वजह से उन क्षेत्रों में ब्रिटेन का प्रवेश रूक गया, साथ ही साथ ये देश यूरोप तथा शेष विश्व के गैर-औद्योगिक देशों में ब्रिटेन के प्रतियोगी भी बन गये। इस प्रकार, यूरोपीय औद्योगिकीकरण अभूतपूर्व और अनपेक्षित ढंग से पूरे विश्व को अनावृत करने लगा, जिसकी वजह से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में जबर्दस्त बढ़ोतरी हुई। यह बढ़ोतरी औद्योगिक माल के यूरोप से बाहर जाने और प्राथमिक उत्पादों के यूरोप के अंदर आने के संदर्भ में मूलतः असमान थी, खासकर यूरोप के उत्तरी और पश्चिमी भागों में। इस असमान व्यापार पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये 19वीं सदी के अवसान के समय यूरोपीय शक्तियों के बीच तीव्र प्रतिद्वंद्विता का जन्म हुआ। जिसके परिणामस्वरूप तत्संबंधित प्रभावित क्षेत्रों जो कि प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित क्षेत्र थे, में जिसे हम 'विश्व का विभाजन' कहते हैं, की स्थिति पैदा हो गई। दूसरी तरफ, साम्राज्यवादी यूरोपीय शक्तियों द्वारा लगातार यह कोशिश की जाती रही कि औपनिवेशिक क्षेत्रों के मध्य उपस्थित व्यापार की आंतरिक बाधाओं को समाप्त किया जाए तथा इनका स्पष्ट रूप से प्रशासनिक एकीकरण किया जाए। भारत में 1858 के बाद औपनिवेशिक राज्य का सुदृढ़ीकरण हुआ तथा इसकी संस्थागत संरचना में अभूतपूर्व स्तर पर विस्तार हुआ। साथ ही यह भी कोशिश की गई कि एक 'सामाजिक, आर्थिक तथा क्षेत्रीय रूप से सुगठित' स्पष्ट आधुनिक स्वरूप को निर्मित किया जाए। इसमें शामिल था आंतरिक कराधान को समाप्त करना, एकरूप कानून की व्यवस्था करना, एक केंद्रीय मौद्रिक व्यवस्था, परिवहन तथा संचार के तंत्र का निर्माण, जैसे- रेलवे, रोड, पोस्ट और टेलीग्राफ, टेलीफोन, हर दसवें वर्ष जनगणना हेतु संस्था, भूमि और लोगों के मापन हेतु विभिन्न प्रकार की सर्वेक्षण एजेंसियाँ, भूमि कर के प्रबंधन हेतु, कानून और व्यवस्था बनाए रखने हेतु तथा पूरे देश में राज्य की उपस्थिति का आभास दिलाने हेतु एक आधुनिक नौकरशाही और पुलिस।

स्थान का क्षेत्रीयकरण वैश्विक साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के वि-क्षेत्रीकृत चरित्र से नज़दीकी से जुड़ा था। अतः 'इस प्रकार क्षेत्र के औपनिवेशिक उत्पादन ने उन व्यवहारों को अपरिहार्य बना दिया जो कि किसी क्षेत्र विशेष में रहने वाले स्वदेशी समाज को सार्वदेशिक सामाजिक संबंधों से जोड़ते थे।' इस तरह से 'औपनिवेशिक भारत का परिसीमित आर्थिक और क्षेत्रीय संबंध विश्व बाजार के विक्षेत्रीकृत गतिशीलता में समाहित कर दिए गए।' (गोस्वामी 1998 : 612-13) इस प्रकार प्रतिबंधित औपनिवेशिक क्षेत्र, विस्तृत औपनिवेशिक बाजार तथा श्रम के अंतर्राष्ट्रीय विभाजन के इस संदर्भ में राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया निर्मित और लोकप्रिय हुई।

6.3.1 प्रारंभिक विचार

राष्ट्रवादी आर्थिक विचारों की प्रमुख धारा का निर्माण 1870 से 1905 की अवधि में हुआ। तथापि, महाराष्ट्र में लोगों का एक ऐसा छोटा समूह था जिन्होंने इसके पहले भी ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण से संबंधित कुछ मुद्दों पर चर्चा की थी और लिखा था। वास्तव में, भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के आर्थिक दुष्परिणामों के बोध को 1830 के दशक के आरंभिक दिनों में राजा राममोहन राय के लेखन में ढूँढा जा सकता है। उन्होंने ब्रिटेन को भेजे जाने वाले भारतीय सम्पत्ति के विरुद्ध शिकायत की तथा अपनी खुद की खेती करने वाले किसानों की दुर्दशा पर चिंता व्यक्त की। 1840 के दशक में कुछ मराठी बुद्धिजीवियों जैसे - भास्कर पांडुरंग तारखदकर, गोविंद विहल कुंटे (जो भाऊ महाजन के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा रामकृष्ण विश्वनाथ ने भारत के आर्थिक शोषण के लिये ब्रिटेन की आलोचना की, खासतौर से इसके संसाधनों की निकासी के लिये। उन्हें पक्का यकीन था कि भारत के लिये अच्छा होने के बजाय ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन 'भारत द्वारा अब तक

झेला गया सबसे कड़वा अभिशाप है।' यद्यपि उन्होंने ब्रिटिश शासन की राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी आलोचना की परंतु उनकी सबसे कटु आलोचना आर्थिक क्षेत्रों में थी। भास्कर तारखदकर ने घोषित किया था कि वह चाहते थे कि 'भारत के धन की निकासी तथा इसे गरीब बनाने में ब्रिटिश सरकार की वर्तमान सख्त नीतियां किस प्रकार क्रियाशील हैं, वे उसे दिखा सकें।' उन्होंने तर्क दिया कि संपूर्ण भारत की तरह ही महाराष्ट्र में स्वदेशी उद्योग के विनाश का परिणाम कामगारों की गरीबी और दुर्गति के रूप में सामने आया। इसके अतिरिक्त 1757 में प्लासी के युद्ध और 1815 के बीच भारत के धन से लगभग 1 हजार मिलियन पौंड सोख लिया गया। उन्होंने औपनिवेशिक सरकार की कर मुक्ति की नीति की भी आलोचना की, जिससे 'बिना किसी अतिरिक्त शुल्क को दिये ब्रिटिश वस्तुओं को भारत पर थोप दिया गया।' इसके परिणामस्वरूप आधुनिक उद्योग के विकास की संभावनाएँ सीमित हो गईं, इसके साथ-साथ स्वदेशी हथकरघा उद्योग भी नष्ट हो गया। इसी तरह भाऊ महाजन ने भारत के खजाने पर युद्ध के खर्च का बोझ डालने की उपनिवेशवादी नीतियों की आलोचना की। 'अनावश्यक युद्धों द्वारा भारतीय खजाने को खाली करने के बाद सरकार ने बांड जारी किए।' रामकृष्ण विश्वनाथ ने धन की निकासी तथा व्यापार के प्रतिकूल संतुलन को भारत की गरीबी के लिये जिम्मेदार ठहराया। उन्होंने भारतीयों को कठोर परिश्रम करने तथा आधुनिक राष्ट्रीय उद्योगों में निवेश करने की वकालत की (नाइक 2001)। इस प्रकार 1840 के दशक में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग औपनिवेशिक शासकों द्वारा भारतीयों से अनुचित और शोषणकारी व्यवहार करने के मुद्दे पर उत्तेजित था। यद्यपि उनकी आलोचना अधूरी थी, तथापि उसने आर्थिक भेद-भाव के विभिन्न पक्षों पर जोर दिया, जिसे बाद में विस्तार से उठाया गया।

6.3.2 औपनिवेशिक शासन की आर्थिक समालोचना

1870 तथा 1880 के दशकों में ब्रिटिश शासन की एक विस्तृत तथा सुगठित राष्ट्रवादी समालोचना का अविर्भाव हुआ। 'राष्ट्रीयतावादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख समर्थकों में थे - दादाभाई नौरोजी (1825-1917), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), रोमेशचंद्र दत्त (1848-1909), गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915), जी. सुब्रह्मण्य अय्यर (1855-1916), जी.वी. जोशी (1851-1911), बालगंगाधर तिलक (1856-1920), और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1849-1925)। उनको यह आभास हो चुका था कि भारत को वैश्विक पूंजीवाद के अंदर एक अधीनस्थ स्थिति में समाहित कर लिया गया है। रानाडे ने इस स्थिति को अधीन औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी। उनके अनुसार देश को एक औपनिवेशिक बाग में रूपांतरित कर दिया गया है, यहां पर पैदा होने वाले कच्चे उत्पादों को ब्रिटिश जहाजों में भरकर ब्रिटिश एजेंट बाहर ले जाते हैं। फिर ब्रिटिश कौशल तथा पूंजी की सहायता से इसे कपड़ों में परिवर्तित किया जाता है, उसके बाद ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा अधीनस्थ देशों में पुनः निर्यात किया जाता है (गोस्वामी में उद्धृत पृ. 615)। इन राष्ट्रवादी लेखकों ने भारत में हो रहे ग्रामीणीकरण और वि-औद्योगिकीकरण की भी आलोचना की। इसके अतिरिक्त नौरोजी द्वारा सूत्रबद्ध धन की निकासी का सिद्धांत ब्रिटिश शासन की निंदा करने का सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रवादी आर्थिक फलक बना रहा।

आरंभिक भारतीय राष्ट्रवादियों के आर्थिक विचारों के अपने अग्रणी और प्रतिष्ठित सर्वेक्षण में बिपिनचंद्र ने आरंभिक राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों की तीखी आलोचना पर विस्तृत चर्चा की है। धन की निकासी, स्वदेशी उद्योगों के पतन, अत्यधिक कराधान, भेदभावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यापार आदि विभिन्न मुद्दों पर राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत की गई आलोचनाओं को वे अपने अध्ययन में शामिल करते हैं। इस प्रभाग में हम इस आलोचना से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों पर चर्चा करेंगे।

6.3.2.1 धन की निकासी

भारत में धन की निकासी की आलोचना शायद उपनिवेशविरोधी राष्ट्रीय आख्यान में सर्वाधिक लोकप्रिय भावना थी। औपनिवेशिक शासक भारत के धन को बाहर लिए जा रहे थे, जिसके फलस्वरूप उत्पन्न देश की गरीबी को औपनिवेशिक शासन की सबसे बड़ी आर्थिक बुराई के रूप में माना गया। निकासी को बिना किसी आर्थिक और वाणिज्यिक लाभ के भारत के संसाधनों को ब्रिटेन को एकतरफा स्थानांतरित किए जाने के रूप में देखा गया। सम्मानित राष्ट्रवादी दादाभाई नौरोजी 'निकासी के सिद्धांत' के प्रवर्तक थे। 1867 में एक भाषण में उन्होंने तर्क दिया कि ब्रिटेन भारत के धन को सोख रहा है, जो कि इस देश के राजस्व का पच्चीस प्रतिशत है और यह ईंग्लैंड के संसाधनों में जुड़ गया है। 1873 में उन्होंने फिर भारत के हितों की अनदेखी करने और इसे ब्रिटेन के लाभ हेतु गुलाम बनाने के लिये आलोचना की। उन्होंने कहा कि यह अप्राकृतिक और दानवी बुराई है। उन्होंने घोषणा की कि 'भारत से बह रही खून की नाली को रोकना' इस समय का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है और अपने देशवासियों का आह्वान किया कि वे इस समस्या का समाधान करने के लिये अपनी सारी ऊर्जा लगा दें। 50 वर्षों तक उन्होंने निकासी के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। उनकी पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1901) राष्ट्रवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था के निर्माण में अब भी एक मील का पत्थर है। विलिमय डिग्बी (1849-1904) की पुस्तक 'प्रास्परस ब्रिटिश इंडिया' (1901), जी.एस. अय्यर की 'सम इकोनामिक आस्पेक्ट्स ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (1903) और आर.सी. दत्त की 'इकोनामिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया (1901-1903) कुछ अन्य विस्तृत कार्य हैं जिनमें भारतीय संसाधनों के उपनिवेशवादी निकासी की कटु आलोचना की गई है। कई अन्य नेताओं और समाचारपत्रों ने इस प्रचार में भाग लिया जो कि जल्द ही व्यापक राष्ट्रवादी विचारधारा का केंद्रीय सिद्धांत बन गया।

6.3.2.2 भारतीय जनता की गरीबी

भारत की आम जनता का गरीबी में पिसना औपनिवेशिक शासन के सौ से अधिक वर्षों के बाद सबके सामने स्पष्ट था। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा शुरू में जिस आशा को प्रश्रय दिया गया कि भारत में ब्रिटिश शासन उदार आर्थिक नीतियों का पालन करेगा जिसकी वजह से देश समृद्ध होगा, 19वीं सदी के अवसान के समय तिरोहित हो गया। 1870 से राष्ट्रवादियों के अंदर भारतीयों की अत्यधिक गरीबी के बारे में लगातार चिंताएं थीं। राष्ट्रवादियों द्वारा की गई सार्वजनिक चिंताओं में गरीबी के मुद्दे का ही प्रभुत्व था। ब्रिटिश शासन द्वारा भारत को दरिद्र बनाए जाने की निर्बाध आलोचना उदारवादी राष्ट्रवादियों के लेखन और वक्तव्यों में भी काफी स्पष्ट थी। 1870 में इस मुद्दे पर नौरोजी ने अपना प्रसिद्ध पर्चा पढ़ा तथा 1876 में उनकी पुस्तक 'दि पॉवर्टी ऑफ इंडिया' आई। महादेव एन.जी. रानाडे, जी.वी. जोशी, आर.सी. दत्त तथा अन्योंने प्रत्येक उपलब्ध मंच पर लगातार इस मुद्दे पर चर्चा की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1886 में इस मुद्दे को अपने हाथ में ले लिया और तब से इसकी लगातार चर्चा की। 1891 में इसने एक प्रस्ताव को मंजूरी दी जिसमें कहा गया कि 'पूरे पचास मिलियन की जनसंख्या जो कि हर वर्ष बढ़ती जा रही है, वह अकाल की दहलीज़ पर एक दयनीय अवस्था में घिसट रही है' और यह कि प्रत्येक दशक में कई मिलियन वास्तव में अकाल से तबाह हो जाते हैं (बिपिन चंद्र 1966 : 9)। आगामी सत्रों में इस मुद्दे पर चर्चा और प्रस्ताव एक नियमित लक्षण हो गए। भारतीय राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि भारत एक शताब्दी से अधिक के ब्रिटिश शासन के पश्चात भी विश्व के गरीबतम देशों में से एक था। उन्होंने जोर दिया कि यह और भी बदतर था कि गरीबी बढ़ रही है। उन्होंने भारत के प्रत्येक वर्ग और समूह को इस मंच पर लाने की कोशिश की। इस प्रकार

गरीबी की समस्या एक आम राष्ट्रीय मुद्दा तथा भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग की एकता का फलक बन गई।

‘गरीबी की समस्या पर बहस को राष्ट्रवादियों और उनके साथ सहानुभूति रखने वालों ने इस स्वर तक उंचा उठा दिया कि ब्रिटिश अधिकारियों को इस पर प्रतिक्रिया देने के लिये बाध्य होना पड़ा। प्रारंभ में उन्होंने गरीबी के अस्तित्व को नकारा और इसकी जगह पर औपनिवेशिक शासन के खुशनुमा चित्र को प्रस्तुत करने की कोशिश की किंतु राष्ट्रवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये आंकड़े जो कि मुख्यतः अधिकारिक स्रोतों से ही उद्धृत थे, इस प्रकार सीधे खारिज नहीं किए जा सकते थे। कई सरकारी अधिकारियों ने इस बात पर जोर दिया कि ऐसी स्थिति नहीं थी और वास्तव में भारत प्रगति कर रहा था। तथापि, उनके तर्क लोगों के गले नहीं उतरे।

प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भारतीय नेताओं ने यह स्पष्ट किया कि गरीबी का प्रमुख कारण औपनिवेशिक सत्ता का पराया और शोषणकारी चरित्र है, तथा औपनिवेशिक सरकार की कार्यप्रणाली भारत की नहीं, अपितु ब्रिटेन के हितों की रक्षा करने की ओर उन्मुख है।

6.3.2.3 उद्योगों का अल्पविकास

राष्ट्रवादियों का यह स्पष्ट मत था कि औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत भारत औद्योगिक अल्पविकास की प्रक्रिया से गुज़र रहा था। यह दो परिघटनाओं द्वारा उत्पन्न किया गया था, दोनों ही औपनिवेशिक नीतियों से नजदीक से जुड़ी थीं – भारत के स्वदेशी उद्योग-धंधों का पतन तथा आधुनिक उद्योग के तीव्र विकास की विफलता। राष्ट्रवादियों के अनुसार इसने भारत की गरीबी में बड़ी भूमिका निभाई क्योंकि एक क्षेत्र में रोजगार के अवसर समाप्त हो गये परंतु आधुनिक क्षेत्रों के तीव्र विकास द्वारा क्षति की पूर्ति नहीं हुई। उन्होंने लगातार इस तथ्य की तरफ इशारा कि भारत एक समय में महान उत्पादक देश था, जो कि एशिया और यूरोप के सभी भागों में अपनी वस्तुओं का निर्यात करता था परंतु अब स्थिति उल्टी हो गई थी और भारतीय स्वयं ब्रिटेन से कपड़ों के आयात करने के लिये विवश थे। जैसा कि आर.सी. दत्त ने घोषणा की कि यह ‘ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक सर्वाधिक दुखदायी अध्याय था’। इसकी वजह से भारत की संपत्ति कम हो रही थी, रोजगार के अवसर भयावह रूप से कम हो रहे थे और गरीबी लगातार बढ़ रही थी। औद्योगिक रोजगार के सिकुड़ने की वजह से ग्रामीकरण की प्रक्रिया और कृषि पर अत्यधिक दबाव बढ़ा जो कि स्वयं में एक विकट स्थिति थी। रानाडे के शब्दों में इसका अर्थ था कि ‘हम खाई के मुहाने पर खड़े हैं और नीचे की तरफ दिया हुआ एक छोटा-सा धक्का हमें अमिश्रित और परम लाचारी के रसातल में पहुंचा देगा’ (चंद्र 1966 : 57)।

ऐसा इसलिये हुआ क्योंकि भारत में अपने सस्ते मशीन निर्मित वस्तुओं के बेचने हेतु ब्रिटिशों ने अपनी राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग किया, जिसकी वजह से भारत का प्रसिद्ध हस्तशिल्प उद्योग नष्ट हो गया। करों की समाप्ति तथा भारत पर मुक्त व्यापार को थोपने, और भारत के सुदूर क्षेत्रों में फैले हुए बाजारों तक सस्ती एवं तीव्र पहुंच के उद्देश्य से रेलवे के निर्माण ने भारतीय बाजारों के ऊपर ब्रिटिश औद्योगिक प्रभुत्व के आसान विस्तार हेतु स्थितियों का निर्माण किया। तत्पश्चात औपनिवेशिक सरकार की कई अन्य नीतियों के परिणामस्वरूप आधुनिक उद्योगों का अत्यंत मंथर गति से विकास हुआ। उदाहरण के लिए राष्ट्रवादियों ने तर्क दिया कि आयात शुल्क की समाप्ति की वजह से विकास में दोगुनी बाधा पड़ी – देश के बाजारों में सस्ती विदेशी वस्तुओं की घुसपैठ हुई तथा सरकार की राजस्व वसूली में कमी आई, जिसे बाद में और आंतरिक लूट-खसोट तथा निम्न सार्वजनिक व्यय द्वारा पूरा किया जाता था। एक राष्ट्रवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के अनुसार, ईंग्लैण्ड

की भारत में यह स्थायी नीति रही है, कि ईंग्लैंड के उद्यमियों के हित के लिए भारत को कच्चे उत्पाद की भूमि के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए' (चंद्र 1966 : 55)। अतः राष्ट्रवादियों ने यह मांग की कि वे नीतियाँ जिन्होंने भारतीय उद्योगों के विकास में बाधाएँ खड़ी की थीं, समाप्त की जाएँ तथा देश के तीव्र औद्योगिकीकरण पर जोर दिया जाए। इस संबंध में उनके एजेंडे का सबसे महत्वपूर्ण बिंदू था एक उचित कर व्यवस्था का निर्माण, जो अधिक औद्योगिकीकृत देशों से मशीन निर्मित सस्ती वस्तुओं के प्रवेश को रोक सके तथा भारतीय उद्योगों के विकास में सहायता कर सके।

6.3.2.4 लोकवित्त

औपनिवेशिक लोकवित्त की राष्ट्रवादी आलोचना इसके दोनों पक्षों से संबंधित थी – कितना राजस्व इकट्ठा किया गया और इसे कैसे खर्च किया गया। औपनिवेशिक सरकार की वित्तीय नीतियों ने देश के संसाधनों पर इसके हानिकारक प्रभावों की वजह से राष्ट्रवादियों का ध्यान अपनी तरफ खींचा। वे औपनिवेशिक सरकार की कर संबंधी नीतियों के कटु आलोचक थे जो ये दावा करती थीं कि भारत में कर बहुत कम था। सरकारी प्रवक्ताओं ने यह तर्क दिया कि भूमि, ताड़ी तथा अफीम से प्राप्त राजस्व कर नहीं है, जिसकी वजह से कर व्यवस्था हल्की प्रतीत होती है। दूसरी तरफ, राष्ट्रवादियों ने यह तर्क दिया कि सरकार द्वारा देश की संपूर्ण वार्षिक आय से किया जाने वाला संग्रहण भी कर का एक रूप माना जाना चाहिए। उन्होंने सरकार के इस दावे को खारिज किया कि भारत पर कर अत्यधिक कम लगाए गए हैं तथा यह दावा किया कि करों का बोझ विशाल है और यह सीमा को पार कर रहा है। रानाडे ने 1980 में कहा कि, 'करों में और बढ़ोतरी को राजनीतिक पागलपन के रूप में देखा जाना चाहिये', इसी प्रकार नौरोजी ने यह तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की कि औपनिवेशिक शासक 'इस प्रकार अधिकाधिक कर निचोड़ रहे थे जैसे पहले से ही निचुड़े हुए संतरे को निचोड़ा जाए – पीड़ा और विपत्ति थोप रहे हैं।' एक मराठी पत्रिका 'दि केसरी' जिसके संपादक तिलक थे, ने लिखा "भारत में कोई भी वस्तु कर से नहीं बची है, यहां तक कि पेड़ों के पत्तों पर भी कर लगा दिये गये हैं। तथापि, यहां पर कुछ ऐसी वस्तुएं जरूर हैं, जिन पर अभी कर नहीं लगाया गया है, ताकि अंग्रेज शायद आनंदातिरेक से भर सकें। इन वस्तुओं में भारतीय जनता की त्वचा और उनके वातावरण का उल्लेख किया जा सकता है (बिपिन चंद्र 1966 में उद्धृत : 503 – 4)।

राष्ट्रवादी तर्क यह था कि प्रति व्यक्ति लगने वाले कर की राशि पर ध्यान देने से महत्वपूर्ण है प्रति व्यक्ति आय से इसके अनुपात पर विचार करना। प्रति व्यक्ति आय के अनुपात में इकट्ठा की गई राशि की गणना करते हुए नौरोजी ने यह तर्क दिया कि भारत में कर का प्रतिशत सोलह है, जबकि ईंग्लैंड में यह सिर्फ आठ प्रतिशत है। अतः राष्ट्रवादियों ने दृढ़तापूर्वक कहा कि करों के भार को देश की संपत्ति और उसके नागरिकों की आमदनी के संदर्भ में देखा जाना चाहिये।

राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से करों के परिणाम से ज्यादा महत्वपूर्ण था इनके खर्च किए जाने का तरीका। संग्रह किए गये कर की एक भारी संख्या देश से बाहर चली जाती थी, यहां खर्च नहीं की जाती थी। जैसा कि नौरोजी ने तर्क दिया, 'ऐसा नहीं है कि कराधान की घटना भारत की शत्रु है...., अपितु शत्रु है राजस्व के एक भाग का देश से बाहर ले जाया जाना।' इसके अतिरिक्त इसका सेना के ऊपर भारत के पड़ोसियों से युद्ध के लिये, रेलवे के लिये तथा अन्य कई अनुत्पादक और बेकार गतिविधियों हेतु इसके उपयोग की उनके द्वारा कटु आलोचना की गई। 1897 में जी.के. गोखले ने तर्क दिया कि किसी भी देश में कराधान की उपयोगिता का निर्णय 'जिस उद्देश्य से इसमें बढ़ोतरी की जाती है तथा सार्वजनिक धन के

खर्च उत्पन्न परिणामों के आधार पर किया जाता है। यूरोपियन तथा अन्य स्वतंत्र देशों में कराधान की वजह से 'उन देशों की शक्ति और सुरक्षा में अभिवृद्धि हुई और उनकी जनता के ज्ञानोदय और समृद्धि में भी बढ़ोतरी हुई।' किन्तु भारत में जैसा कि गोखले ने जोर दिया कि लगातार बढ़ रहे कराधान और इसके अविवेकपूर्ण खर्च ने 'निरंकुश प्रबंधन, दोषपूर्ण संवैधानिक नियंत्रण और विदेशी प्रभुत्व में अंतर्निहित दोषों ने हमारे संसाधनों के दोहन में लगातार बढ़ोतरी हेतु मदद ही की, हमारे भौतिक विकास को मंद किया, हमारी प्राकृतिक सुरक्षा को कमजोर किया और हमारे ऊपर अनिर्धारित तथा असीम आर्थिक बोझ लाद दिया (बिपिन चंद्र 1966 : 575)।

वह मूलभूत तथ्य जिसे राष्ट्रवादी स्पष्ट करना चाहते थे, वह था कि विदेशी शासन ही देश की इस दयनीय दशा के लिये मूलतः जिम्मेदार है। यदि किसी स्वतंत्र देश की सरकार अधिक कर लगाती है तो वह वहां के लोगों की भलाई के लिये होता है किन्तु किसी विदेशी सरकार द्वारा अत्यधिक कर संग्रहण राष्ट्रीय संसाधनों का क्षय करता है।

6.3.2.5 कृषि

औपनिवेशिक भारत की लगभग अस्सी प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर थी और भूमि से प्राप्त होने वाला राजस्व 19वीं शताब्दी में सरकारी कर-संग्रहण का सबसे बड़ा भाग होता था। भूमि राजस्व की मांग अधिक थी और इसकी अत्यंत ही कड़ाई से वसूली होती थी, जिसकी वजह से किसानों की विपन्नता बढ़ती जा रही थी। राष्ट्रवादियों ने इस मुद्दे को आरंभ में ही उठाया और इस बात पर जोर दिया कि यह अकालों के आवर्तन, भारत की गरीबी और इसकी कृषि के पतन का एक प्रमुख कारण है। सभी राष्ट्रवादियों ने इस मुद्दे को उठाया। किंतु यह रोमेशचंद्र दत्त थे जिन्होंने इसे एक सिलसिलेवार रूप में विकसित किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने 1888 से 1903 के बीच लगभग प्रत्येक वर्ष इस मुद्दे पर प्रस्ताव पास किये। औपनिवेशिक भू-राजस्व नीतियों की समालोचना लगभग संपूर्ण राष्ट्रीय नेतृत्व से उद्भूत हुई। राष्ट्रवादी आंदोलनकारियों ने इन बातों पर आपत्ति व्यक्त की – (i) भू-राजस्व का उच्च स्तर जिसने कृषि बचत के एक बड़े भाग को खा लिया, भारत से पूंजी की निकासी, कृषि में निवेश में बाधा, देहातों की गरीबी और नियमित अकालों का सृजन; (ii) राजस्व के निर्धारण में लगातार संशोधन, जिसकी वजह से भूमि में निवेश हेतु किसानों में अनिश्चितता और निरूत्साह, परिणामस्वरूप कृषि में अस्थिरता और क्षति; (iii) सरकार द्वारा राजस्व की मांग में समय-समय पर वृद्धि की वजह से जमींदारों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में इनमें और अधिक बढ़ोतरी (iv) किसानों से कर और राजस्व की कड़ी वसूली और साथ ही साथ उनकी बेदखली और सजा। इन समस्त नीतियों का संयुक्त प्रभाव था कृषि से पूंजी की निकासी, भूमि में निवेश को रोकना, भूमि की गुणवत्ता में कमी आना, कृषि पर आधारित जनसंख्या की गरीबी और अकालों की पुनरावृत्ति जिसकी वजह से भारी मात्रा में मृत्यु।

इस स्थिति में सुधार के लिये राष्ट्रवादियों ने सुझाव दिया कि सरकार अपनी भू-राजस्व की मांग को कम करे जिससे किसानों के पास जलवायु संबंधी विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करने हेतु कुछ अधिशेष रहे, वसूली के तरीकों को और लचीला बनाया जाये तथा प्रत्येक क्षेत्र में एक स्थायी स्वामित्व नीयत किया जाए। स्थायी बंदोबस्त की मांग का यह अनिवार्य अर्थ नहीं था कि राष्ट्रवादी संपूर्ण भारत में बंगाल के तर्ज पर जमींदारी व्यवस्था की मांग कर रहे थे। कई मामलों में वे यह मांग कर रहे थे कि लंबी अवधि के लिये स्वामित्व को निश्चित कर दिया जाए जिसके अंतर्गत किसान इस बात के लिये सुनिश्चित हो जाए कि उन्हें लंबे समय तक एक निश्चित राजस्व देना है और उनकी भूमि जब्त नहीं की जाएगी। यह तथ्य है कि अधिकतर राष्ट्रवादी बंगाल की तरह का बंदोबस्त और सभी प्रकार के

बंदोबस्तों के तहत एक निश्चित सरकारी मांग के बीच फर्क करते थे जिसका सत्यापन उनकी अनेक रचनाओं में है (विस्तृत विवरण के लिए देखें बिपिन चंद्र 1966 : 420-36)। सरकार से उनकी अपील लंबे समय के लिये राजस्व को निश्चित करने की थी ताकि किसानों का भला हो सके तथा अधिशेष का भूमि में सुधार हेतु पुनर्निवेश किया जा सके।

6.3.2.6 विदेशी व्यापार

यद्यपि भारत ने हमेशा ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा लिया है, औपनिवेशिक कब्जे के बाद यह भारी मात्रा में बढ़ा। आयात और निर्यात दोनों तेजी से बढ़े तथा व्यापार की प्रकृति में एक महत्वपूर्ण रूपांतरण हुआ। 1813 तक भारत प्राथमिक रूप से विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात करता था, खासकर सूती और सिल्क कपड़ों का तथा कीमती धातुओं, जैसे— सोने और चांदी का आयातक था तथापि, 19वीं शताब्दी में यह कच्चे कपास, जूट, चाय, काफी एवं खाद्यान्न तथा अन्य औद्योगिक कच्चे माल आदि प्राथमिक उत्पादों का निर्यातक बन गया तथा विनिर्मित वस्तुओं का आयातक बन गया। भारत के व्यापार की एक अन्य विशेषता बन गई आयात मूल्य के ऊपर निर्यात मूल्य की अधिकता।

राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक प्रशासन की इस आशावादी दृष्टिकोण को चुनौती दी जिसके अनुसार व्यापार में वृद्धि भारत के लिये अच्छा था। उन्होंने तर्क दिया कि व्यापार के बढ़ते हुए परिमाण को किसी देश के संदर्भ और प्रकृति को समझे बिना संपन्नता का सूचक नहीं माना जा सकता। वह इस बात से भी सहमत नहीं थे कि यदि यूरोपीय देशों से तुलना की जाए तो व्यापार का परिमाण बढ़ा था। जहां तक व्यापार की प्रकृति का संबंध था उन्होंने दृढ़ता से कहा, वह पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के विपरीत था और भारतीय अर्थव्यवस्था के वि-औद्योगिकृत स्वरूप को व्यक्त करता था। उन्होंने यह भी समझ लिया था कि जिस तथाकथित व्यापार के संतुलन की बात की जा रही थी और जिसमें आयात के ऊपर निर्यात की अधिकता का ढोल पीटा जा रहा था, वह भारत के पक्ष में नहीं था। बल्कि यह विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिये तदनुकूल परिस्थिति का निर्माण था ताकि भारत अपने लादे गए विदेशी घाटे पर बढ़ती हुई दर से ब्याज अदा करे, तथाकथित 'घरेलू मूल्य' अदा किए जाएं तथा भारत में ब्रिटिश नागरिकों के वेतन और अन्य कमाइयाँ ब्रिटिश मुद्रा में प्रेषित की जा सकें। अतः भारत की व्यापार की कमाई ने ब्रिटेन का भला किया और भारत को सोख लिया। 1895 में दादाभाई नौरोजी ने घोषणा की कि आयात की कमाई 'वस्तुतः वह तरीका था जिससे विदेशियों की आवश्यकताओं और ब्रिटिश शासकों द्वारा धन को ले जाने की प्रक्रिया को भारत की गरीब जनता को पूरा करने के लिए बाध्य किया गया।' आर.सी. दत्त ने भी यह चिन्हित किया कि 'घरेलू शुल्क के नाम पर भार से आर्थिक निकासी ने देश को जितना वह आयात कर सकता था, उससे अधिक निर्यात करने को मजबूर किया।' यह अधिकता अकाल के वर्षों के दौरान भी मजबूरी में चलती रही जब देश में स्वयं खाद्यान्नों की घोर आवश्यकता थी।

6.3.3 औपनिवेशिक भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद का उभार

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद औपनिवेशिक सरकारी अधिकारियों और प्रारंभिक राष्ट्रवादियों के बीच वैचारिक प्रतिवाद से जन्मा। 19वीं शताब्दी का उत्तरार्ध वह काल था जब यह वैचारिक संघर्ष सर्वाधिक तीव्र था। आरंभ का यह आशावाद कि विश्व की अग्रणी औद्योगिक शक्ति भारत को अपनी तरह से ही विकसित करेगी, ने बाद में इस निराशावादी अनुभूति का रूप ले लिया कि वास्तव में भारत पीछे जा रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पक्ष के व्यापक और बारंबार विश्लेषण के पश्चात आरंभिक राष्ट्रवादी इस नतीजे तक पहुंचते दिखे कि भारतीय अर्थव्यवस्था की जड़ता और पतन औपनिवेशिक शासकों की असावधानी से

नहीं थी अपितु यह औपनिवेशिक शासन की संरचना से गहरे स्तर पर जुड़ी हुई थी, कि 'ब्रिटिश शासन भारत के लिये आर्थिक रूप से घातक था और शायद यह योजनाबद्ध था।' (बिपिन चंद्र 1966 : 737)

शास्त्रीय राजनीतिक अर्थशास्त्र और औपनिवेशिक शासन की संकीर्ण आर्थिक नीतियों की तीव्र आलोचना ने वह जमीन तैयार की जिस पर एक 'निर्भर औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था' की संकल्पना राष्ट्रवाद के सार्वभौमिक सिद्धांतों के साथ-साथ विकसित हो सकी। रानाडे ने 1890 के दशक के दौरान अर्थव्यवस्था संबंधी अपने लेखन में शास्त्रीय अर्थशास्त्र की अत्यधिक व्यक्तिवादी और विशिष्टवादी होने के लिये आलोचना की। उन्होंने तर्क दिया कि यह ब्रिटेन के विशिष्ट संदर्भ में विकसित हुआ था और सार्वत्रिक रूप से लागू किये जाने योग्य नहीं था। उन्होंने अंग्रेजी अर्थशास्त्रीयों द्वारा अहस्तक्षेप की नीति की आलोचना की क्योंकि यह व्यापक मुद्दों की तरफ देखे बिना विशुद्ध रूप से आर्थिक दृष्टिकोण था। व्यापक संदर्भ में यह शामिल था कि 'राजनीतिक और सामाजिक तत्त्वों को' भी इसमें शामिल किया जाए और 'यदि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक विद्वान की तत्वमीमांसा से कुछ भी अधिक था' तो इसे लोगों की 'उच्च स्तरीय हितों और आकांक्षाओं' को भी ध्यान में रखना था। शास्त्रीय अर्थशास्त्र के व्यक्तिवाद और अर्थवाद को तभी नियंत्रित किया जा सकता था जब इसे राष्ट्रीय और सामान्य हित के उच्च आदर्शों के अधीन किया जा सके :

'व्यक्तिगत हित वह केंद्र नहीं हैं जिनके इर्द-गिर्द सिद्धांत घूमता रहे..... सच्चा केंद्र वह राजनीति है जिसका व्यक्ति एक सदस्य है और सामूहिक सुरक्षा एवं कल्याण, सामाजिक शिक्षा तथा अनुशासन..... निश्चित रूप से केंद्र होने चाहिए, यदि सिद्धांत को सिर्फ काल्पनिक नहीं होना है।' (गोस्वामी 1998 : 619)

राष्ट्रवादियों की यह इच्छा थी कि उचित राष्ट्रीय आर्थिक नीति का विकास हो जिससे भारतीय हितों की पूर्ति हो सके। ये भारत को आधुनिक औद्योगिक विकास के मार्ग पर लाना चाहते थे। कुल मिलाकर उनका आर्थिक दृष्टिकोण बुर्जुआ था परंतु उन्होंने किसानों और मजदूरों के जन-समूह के लिये भी आवाज उठाई। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने 'भारत के लोगों को उनके आम आर्थिक हितों और उनके शत्रु के अस्तित्व के प्रति सचेत किया और इस प्रकार उन्हें एक साझा राष्ट्रवाद में ढलने में मदद की' (बिपिन चंद्र 1966 : 758)।

6.4 सारांश

भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद 19वीं शताब्दी के अंतिम तीन दशकों तथा 20वीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में विकसित हुआ। यद्यपि हम इस प्रकार की भावनाओं की इससे पहले भी खासकर 1840 के दशक में सरगर्मी पाते हैं, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही यह पूर्णरूपेण विकसित हो पाया। यह इस बोध पर आधारित था कि ब्रिटिश शासन भारत के आर्थिक हितों के प्रतिकूल है क्योंकि औपनिवेशिक सरकार की आर्थिक नीतियाँ उपनिवेशवादी देश के हितों के प्रति समर्पित था, जो देश था ब्रिटेन। आरंभिक राष्ट्रवादियों ने तर्क दिया कि भारत को उसकी अपनी स्वतंत्र आर्थिक नीतियों की आवश्यकता है जो उसे आधुनिक औद्योगिक विकास के पथ पर अग्रसर कर सकें। उनके पास उपलब्ध प्रत्येक संसाधनों-समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, भाषण, किताबें, व्याख्यान और राजनीतिक प्रदर्शन के जरिये उन्होंने लगभग पांच दशकों तक इस विषय पर अभियान चलाया। औपनिवेशिक शासन की इस सम्मिलित आलोचना ने आर्थिक मुद्दों पर राष्ट्रवादी बुद्धिजीवी वर्ग में लगभग एकीकृत मत का निर्माण किया, इसका परिणाम यह था कि भारतीय जनता, खासकर मध्यवर्ग में यह बोध पैदा हुआ

कि भारत एक क्षेत्रीय इकाई था और इसके हित उभयनिष्ठ थे। जैसे-जैसे यह बोध आगे आने वाले वर्षों में बढ़ता गया, भारतीय राष्ट्रवाद की आधारशिला दृढ़ता से रखी गई।

6.5 अभ्यास

- 1) आर्थिक राष्ट्रवाद क्या है? इसके आरंभिक समर्थकों के मतों की चर्चा करें।
- 2) भारत में महत्वपूर्ण राष्ट्रवादी आर्थिक चिंतक कौन थे? उपनिवेशवाद के बारे में वे क्या सोचते थे?
- 3) भारत में आरंभिक राष्ट्रवादियों द्वारा धन की निकासी और भारत में उद्योगों की कमी पर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण की चर्चा कीजिए।

